अंधकारमयता का अन्वेषण

ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय के स्थानांतरण की समस्या

नवज्योति सिंह

अनुवाद : विक्रम भारद्वाज

मैं मुल्ला नसरुद्दीन की एक सूफ़ी कहानी से शुरू करता हूँ जो कि 'रोशनी' और 'खोज' से संबंधित है। इसके माध्यम से मैं उस समस्या को दर्शाऊँगा जिसे मैं 'अंधकारमयता'/ 'अंधकार-अस्तित्व' की समस्या कहता हूँ।

एक कुछ-कुछ शांत रात्रि में मुल्ला नसरुद्दीन बहुत तन्मयता से गाँव की सीमा के बाहर एक लैम्प पोस्ट के नीचे कुछ खोज रहे थे। आने-जाने वालों ने उनसे पूछा कि क्या वे कुछ मदद कर सकते हैं? पता चला कि मुल्ला नसरुद्दीन की चाबी खो गयी है। सब लोग मिल कर उसकी खोज में जुट गये। जब काफ़ी खोज के पश्चात् भी सफलता हाथ नहीं लगी, तब एक गाँववाले ने मुल्ला से कहा कि वे याद करने की चेष्टा करें और मंथन करें कि चाबी कहाँ गुम हो सकती है? मुल्ला ने पूरे विश्वास के साथ उत्तर दिया, 'मैंने ग़लती से चाबी गाँव के दूसरे छोर पर गिरा दी थी'। गाँव वाले यह सुनकर अवाक् रह गये। उन्होंने पूछा, 'तब यहाँ क्यों चाबी ढूँढ़ रहे हो?' मुल्ला ने जवाब दिया, 'क्योंकि यहाँ रोशनी है, और वहाँ अंधकार है।'

क्या वास्तव में अंधकार में ढूँढ़ने का कोई औचित्य है?

'विद्यमानता की तत्त्वमीमांसा' (मेटाफ़िज़िक्स ऑफ़ प्रज़ेंस) न केवल 'धोखे से छुपाने' की प्रवृत्ति से परिपूर्ण हो कर आती है, बल्कि उसके साथ-साथ उसमें 'भूलने की तीव्रता' भी निहित रहती है। अचम्भित ग़ैर-पाश्चात्य सभ्यता के लिए तो यह विशेष रूप से सच है। पाश्चात्य सभ्यता के प्रकाश में भागीदारी करने के लिए ग़ैर-पाश्चात्य सभ्यता को एक तरह

के अंधकार की परत ओढ़नी ही पड़ती है।[1] फ्रांसीसी क़ानून 'वीभत्स' ऐतिहासिक सभ्यताओं को अभिव्यक्त करती 'प्रखर पदचाल' पर आपत्ति करता है, जबकि बंजर फलहीन स्मृतियों और सनकी नवाचारों के लिए पूरी अनुमति देता है। ज्ञानोदित ग्रीक नगर-राज्य ग़ैर-नागरिक दासों को आम रास्तों पर चलने की अनुमति देते थे, बशर्ते वे अपने ईश्वर, अपनी भाषा और अपने व्यवहारों को पीछे छोड़कर आयें।[2]

यह उन 'दूसरों' का निष्कासन है, जिन्हें अपने वस्त्रादि त्यागने ही होंगे, अँधेरे का आवरण अपनाना ही होगा— अगर वे ज्ञानोदय के तेज़ का आनंद लेना चाहते हैं। स्वाभाविक ऐतिहासिकताओं का परित्याग ही सजग आधुनिक आत्म-चिंतन का मुख्य औज़ार माना जाता है। विडम्बना यह है कि ग़ैर-पाश्चात्य सभ्यता के लिए 'आधुनिक ज्ञानोदय' को पाने के लिए 'अंधकारमयता' अत्यावश्यक है। मुल्ला नसरुद्दीन का आधुनिक संस्करण ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय के भीतर ही 'अपने घर की चाबी के भूत' को ढूँढ़ने के लिए बाध्य है। जैसा कि भाग्य को मंजूर है, वह पाश्चात्य ज्ञानोदय से अपने भौगोलिक और ऐतिहासिक निष्कासन के प्रति शायद निजी रूप से व्यथित भी होता है। ख़ास कर उस समय जब 'लैम्पपोस्ट के नीचे' की जाने वाली इस खोज में कुछ विशेष हाथ न लगा हो। अपने साथ अपना अँधेरा लिए, वह एक ऐसे घर में रहने के लिए मजबूर है जो किराये का है पर प्रकाशमय है। मूलतः चाबी— जो ग़ैर-पाश्चात्य सभ्यता की मानवता है— अंधकार में खो गयी है, और उसकी वैधानिक खोज केवल ज्ञानोदय के भीतर ही सम्भव है। परंतु इस सूफ़ी कहानी का संदेश यह भी है कि अंधकार में खोज को निशंक जारी रखें।

ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय के दायरे में ही एक 'भारतीय' आत्मसंयम और आश्वस्ति की खोज पिछली तीन शताब्दियों से चल रही है। आधुनिक भारत इसी खोज में मिली वस्तुओं का परिणाम है। भारतीय सभ्यता की छाया निस्संदेह भारतीय आधुनिकता के भीतर मिल जाती है, बावजूद इसके कि भारतीय सभ्यता की 'अंधकारमयता' लगभग पूर्ण हो चुकी है, और बिसारने की आदत लगभग सब ओर व्याप्त है। बीती हुई भारतीय सभ्यता के अन्वेषण में शायद ही कोई अंश होगा, जिसमें आज कोई असंकुचित वैधानिक शक्ति हो। बीती आदतों की निष्क्रिय करने वाली ताक़तों को यद्यपि हर तरफ़ और हर ओर महसूस किया जा सकता है। भारतीय सभ्यता की अंधकारमयता की प्रवृत्ति को बंजर स्मृतियों की अति-उत्साहित व्यापकता में, या फिर ज़ंग लगे मृतप्राय ग्रंथों और पाठों के साथ निरर्थक व्यवहार में देखा जा सकता है। भारतीय सभ्यता के समकालीन पाठ भारतीय अतीत और वर्तमान पर एक तरह की रुग्णता के आरोपण से ग्रस्त हैं। सम्भ्रांत भारतीय शिक्षित वर्ग किसी भी ऐसी भारतीय सभ्यता की रोशनी की किरण से पूर्णतः अनभिज्ञ है जिसके भीतर नयी समसामयिक खोज की जा सके। अंधकारमयता का प्रभाव शिक्षित भारतीयों में इस क़दर समाहित हो चुका है कि उनके लिए तेहरवीं शताब्दी के किसी भी भारतीय विचारक या दार्शनिक का नाम बता पाना काफ़ी मुश्किल है— उसके सोच के विश्लेषण, निरूपण और कार्यान्वयन की तो मानो कोई सम्भावना ही नहीं है।[3]

---

[1] भारतीय परम्पराओं में 'द्विज' के पोषण के लिए 'ग़ैर-द्विज' की ज़रूरत थी. भारतीय ज्ञानोदय प्रणाली में यह एक 'आंतरिक दूसरा' था, जो कि 'बाहरी दूसरे', जैसे म्लेच्छ, यवन इत्यादि से भिन्न था. अंदर के अंधकार के लिए अस्पृश्यता और बाहर के अंधकार के लिए बहिष्कार निर्धारित था. इस प्रकार भारतीय ज्ञानोदय में भी अंधकार के निष्कासन के इन मापदण्डों का सुरक्षात्मक आवरण मौजूद था.

[2] दयाकृष्ण इस स्थिति की तुलना दक्षिण अफ्रीका के 'अपारथाइड' से करते हैं. अंग्रेज़ों द्वारा परम्परागत शिक्षा और आधुनिक शिक्षा के संस्थागत विभाजन में वे इसकी शुरुआत देखते हैं जब 1781 में कलकत्ता मदरसा की, 1782 में संस्कृत कॉलेज की और 1784 में एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की गयी. देखें, दयाकृष्ण (1997) : 191.

[3] भारतीय प्रवीणता और ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय को साथ लेने के कम-से-कम दो उल्लेखनीय प्रयास हुए हैं : (1) अद्वैत से प्रेरित भारतीय अध्यात्म और पश्चिमी विज्ञान का मिलन जो राममोहन राय, विवेकानंद, और राधाकृष्णन में दिखता है, और (2) थियोसॉफ़ी द्वारा 'भारतीय प्रकाश' को पुनर्स्थापित करने का प्रयास जो पश्चिम के अंदर की वैकल्पिक धाराओं से प्रेरित था. यह ब्लावेट्सकी, एनी बेसेंट, और विलियम जोन्स में दिखता है. इन दोनों प्रयासों में भारतीय 'प्रकाश' द्वारा उस पश्चिमी अंधकार को आलोकित करने का दावा है जो ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय का ही अवशेष है.

आधुनिकता ने इस विस्मरण का संचालन किया है। इसके फलस्वरूप भारतीय सभ्यता की मानवता एक वैधानिक पंगुता में धँस गयी है, जिसके कारण वह एक पूर्ण और संगत सोच को व्यक्त कर पाने में सक्षम नहीं है। परिणामस्वरूप धूर्तों की वंदना होती है। अंधकारमयता के अवशेषों के ऊपर और निर्मित किया भी क्या जा सकता है?[4] लेकिन प्रश्न यह है कि क्या अब भी 'अंधकार' में खोजते रहने का कोई औचित्य बचा है?

पाश्चात्य सभ्यता के प्रकाश में भागीदारी करने के लिए ग़ैर-पाश्चात्य सभ्यता को एक तरह के अंधकार की परत ओढ़नी ही पड़ती है। ... स्वाभाविक ऐतिहासिकताओं का परित्याग ही सजग आधुनिक आत्म-चिंतन का मुख्य औज़ार माना जाता है। विडम्बना यह है कि ग़ैर-पाश्चात्य सभ्यता के लिए 'आधुनिक ज्ञानोदय' को पाने के लिए 'अंधकारमयता' अत्यावश्यक है।

अंधकारमयता की समस्या एक अतिविशिष्ट समस्या है। इसे समझना ग़ैर-पाश्चात्य सभ्यताओं के लिए आवश्यक है, क्योंकि उसका सामना उन्हें ही करना है। इसका संबंध उनके अतीत से निकले हुए उस अंधकार से है जो स्थानांतरित ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय को अपनाने का एक अनिवार्य परिणाम है। इस काली छाया के परिणामस्वरूप ग़ैर-पाश्चात्य मानवता के जीवन से क्षितिज का विलोप हो जाता है और वह एक मोटी तात्कालिकता और भ्रमित धैर्य के अंदर रहने के लिए मजबूर हो जाती है। इस तरह का अंधकार उस चर्चित अंधता बिंदु (ब्लाइंड स्पॉट) से भिन्न है जो कि स्वत: अपनी ही नाक के नीचे होता है। यह बाद वाला एक ऐतिहासिक काला बिम्ब है जो कि नाक के नीचे है। ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय की नाक के नीचे वालो अँधेरे की तरह जो युरोप के भीतर है। इससे अलग, पहले वाला एक भौगोलिक काला बिम्ब है, जो पाश्चात्य ज्ञानोदय के ग़ैर-पाश्चात्य सभ्यताओं में स्थानांतरित होने के कारण अस्तित्व में आया है। ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय की नाक के नीचे वाले अंधता बिंदु की प्रत्यालोचना युरोपीय महाद्वीपीय दर्शन ने निर्मित की है। परंतु स्थानांतरित ज्ञानोदय से उत्पन्न रुग्णता का कोई विश्लेषण शायद ही उपलब्ध है। इस तथ्य को एक नये सिरे से समझने की आवश्यकता है, क्योंकि ज्ञानोदय की युरोपियन प्रत्यालोचना इस अंधकारमयता से अनभिज्ञ है।

दिग्भ्रमित प्रतिरोध भी करते हैं। अंधकारमयता के तत्त्व का ज्ञानोदय के प्रति विरोध न केवल सुरक्षात्मक आत्म-प्रजनन को ले कर है, बल्कि उसका संबंध रोशनी के एक विदग्ध कण को खोजने से भी है। भारतीय सभ्यता की अंधकारमयता को ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय के तेज़, उग्र प्रकाश के भीतर कल्पित करना अपने आप में एक चुनौतीपूर्ण खोज है। यह केवल तभी सम्भव है जब ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय की भारतीय सभ्यता के ज्ञान के कोष्ठकों में रख कर विसंरचना की जाए। इसके लिए भारतीय सोच में यदि प्रत्यक्ष करने की कोई विश्वसनीय शक्ति है तो उसे पुन: प्राप्त करना होगा और मनुष्य-मात्र के भविष्य के लिए उसकी अर्थवत्ता को प्रभावकारी रूप से दिखाना होगा।

मुद्दा अंधकारमयता और ज्ञानोदय के बीच, या भारत और युरोप के बीच वर्चस्व का या पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का नहीं है, अपितु सत्य का है। मूलभूत प्रश्न है कि क्या ऐसा ज्ञानोदय सम्भव है जिससे एक पंगु बनाने वाली अंधकारमयता प्रवर्तित न हो? इस मूल चाबी की खोज करनी है तो अंधकार में तलाशने का मूल्य चुकाना ही होगा।

---

[4] मार्टिन हाइडेगर (1943) : 163.

भारतीय सभ्यता के समकालीन पाठ भारतीय अतीत और वर्तमान पर एक तरह की रुग्णता के आरोपण से ग्रस्त हैं। सम्भ्रांत भारतीय शिक्षित वर्ग किसी भी ऐसी भारतीय सभ्यता की रोशनी की किरण से पूर्णतः अनभिज्ञ है जिसके भीतर नयी समसामयिक खोज की जा सके। अंधकारमयता का प्रभाव शिक्षित भारतीयों में इस क़दर समाहित हो चुका है कि उनके लिए तेरहवीं शताब्दी के किसी भी भारतीय विचारक या दार्शनिक का नाम बता पाना काफ़ी मुश्किल है— उसके सोच के विश्लेषण, निरूपण और कार्यान्वयन की तो मानो कोई सम्भावना ही नहीं है। आधुनिकता ने इस विस्मरण का संचालन किया है।

क्या ऐसा ज्ञानोदय सम्भव है जो साथ में अंधकारमयता न लाए?

ज्ञानोदय का निरूपण करते समय हसेर्ल ने घोषित किया था, कि 'युरोप ने 'परम विचार' के बोध को ही लक्ष्य बनाया है, चाहे उसके तथ्यपरक परिणाम कितने भी त्रुटिपूर्ण और विकृत क्यों न हों— जबकि दूसरी सभ्यताएँ, चाहे उनके परिणाम कितने भी उत्कृष्ट क्यों न हों, 'दार्शनिक सर्वज्ञता' के सुस्पष्ट विचार से कभी भी उत्साहित नहीं रहीं।' (हसेर्लीयाना vi-325) 'युरोपीय दर्शनशास्त्र का विचार मानवता के इतिहास में अद्वितीय है ... बाक़ी सभी और मानवता के दूसरे समूहों को यह मालूम है। बावजूद इसके कि इन सभ्यताओं की एक अखण्डित इच्छा शक्ति आत्म-संयमता के लिए है, वे अपने को युरोपीय बनाने में लगे हैं— जबकि हम, जब तक कि हम अपने को ठीक से समझते रहें, अपने को कभी भी 'भारतीय' नहीं बनाएँगे।' (हसेर्लीयाना iv-326) हसेर्ल सोचते थे कि, 'भारतीय और चीनी दर्शन और विज्ञान के विषय में बात करना तो पारिभाषिक शब्दों के अर्थ को ठीक से न समझने जैसा होगा, उन अर्थों को तोड़ने-मरोड़ने जैसा होगा ...।' (हसेर्लीयाना iv-331)

हाइडेगर ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय का एक अलग पाठ प्रस्तुत करते हैं। इसमें निहित 'सांसारिक वस्तुओं की सैद्धांतिक बोध-शक्ति की सर्वज्ञता' (ओमिनीसाइंस इन हैंड) के सिद्धांत की समीक्षा वे 'सत्ता की विस्मृति' (ओब्लिवियन ऑफ़ बीइंग) के रूप में करते हैं जिससे एक नया फ़लक खुलता है। हाइडेगर द्वारा ग्रीको-युरोपियन परावाकोन्मुख (लोगोसेंट्रिक) सभ्यता को कोष्ठक में रख कर उसका शोधन वास्तव में ग़ैर-पाश्चात्य सभ्यताओं के लिए एक अवसर के रूप में एक राहत है। इससे ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय की एक प्रभावशाली खुली समीक्षा सम्भव हुई है। लेकिन इस नये फ़लक पर हाइडेगर एक पुनर्जीवित ज्ञानोदय का नया पाठ लिखते हैं 'पश्चिम के मौलिक विचारक' (प्राइमोर्डियल थिंकर ऑफ़ ऑक्सीडेंट) का। हाइडेगर के इस 'मौलिक विचारक' का भाग्य पश्चिम की सीमाओं के अंदर ही निर्धारित होता है और अनुभव किया जा सकता है। यह पश्चिम के इतिहास का अंकन करती हुई भाषा के भीतर ही सम्भव है। ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय की आलोचना के बावजूद हाइडेगर 'पश्चिम के उस सत्यगामी अंतःक्षेत्र' (ट्रुथ सीकिंग इनक्लोज़र ऑफ़ ऑक्सीडेंट) की पुनर्प्राप्ति के इच्छुक हैं। वे कहते हैं— 'पश्चिम की भाषा 'आरम्भ' को व्यक्त करती है, जो कि अस्तित्व के सत्य का सार है और अभी भी छुपा हुआ है। पश्चिम की भाषा का शब्द पश्चिमी मानवता से अनुलग्न वस्तुओं को सुरक्षित रखता है, उनको देवी ऐलिथीया के गृह क्षेत्र में ले जा कर।'[5] मैं इस विशेषाधिकृत 'पश्चिम के मौलिक विचारक' को विखण्डित करूँगा, क्योंकि

---

[5] काह्न ग्रीक 'होने' की क्रियाओं के विभिन्न प्रयोगों में उसकी एकता को दर्शाते हैं. देखें, चार्ल्स सी. काह्न (1973). यह जॉन डब्ल्यू. एम. वीरहार द्वारा सम्पादित पुस्तक शृंखला का छठा भाग है.

हाइडेगेरियन शोधन अंधकारमयता की समस्या से अनभिज्ञ है, अनजान है। मैं उस मूल ग्रीको-युरोपियन ताक़त का विश्लेषण करूँगा जिससे स्थानांतरित अंधकारमयता अनिवार्य हो जाती है। ऐसी ताक़त हाइडेगर की परावाकोन्मुख पाश्चात्य सभ्यताओं के विखण्डन से बाहर रहती है।

मैं यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि कैसे ग्रीको-युरोपियन प्रकल्प बावजूद हाइगेरियन शुद्धीकरण के, अ-स्थानीय अंधकारमयता को अनिवार्य बना देता है। हाइडेगर के सत्ता-विमर्श में विद्यमानता की तत्त्वमीमांसा का विखण्डन, उन्हें 'होने की' क्रिया व उसके उपकरण में उस प्राचीन विश्वास के दायरे से बाहर नहीं ले जाता जो ग्रीको-युरोपियन विचार में अवस्थित है। 'होने की' क्रिया (बीइंग) के गर्भ में सत्ता-विषयक भेद (ओंटोलॅजिकल डिफ़रेंस) को डालने से उस प्राचीन विश्वास में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है। 'होने की' क्रिया के प्रकट/अप्रकट करने की क्षमता में यह विश्वास दूसरी क्रियाओं को अंधकारमय बनाता है, क्योंकि इन दूसरी क्रियाओं को 'होने की' क्रिया के विभिन्न रूपों में विश्लेषणीय समझा जाता है। 'होने की' क्रिया के उपकरण के प्रकाश में दूसरी क्रियाओं को पढ़ने से ये दूसरी क्रियाएँ अँधेरे में चली जाती हैं। 'होने की' क्रिया में यह अटूट विश्वास 'पश्चिम के मौलिक विचारक' का एक लक्षण है। जब भी ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय स्थानांतरित होता है तो अन्य क्रियाओं की प्रवीणता एवं उनके आविष्कृत चरित्र का लोप हो जाता है। फिर चाहे वो चिरसम्मत ज्ञानोदय हो या हाइडेगर का संस्कारित ज्ञानोदय।

ज्ञानोदय की क्रिया 'टू बी' का विश्लेषण

यह याद रखने की बात है कि पारिभाषिक शब्द 'विश्लेषण' और 'विखण्डन' दोनों का समान ही अर्थ है। शब्द-व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार ग्रीक पारिभाषिक शब्द 'विश्लेषण' का अर्थ है, 'पूर्ववत् करना'/ 'अलग करना'। Analyein का अर्थ है 'ढीला करना' और इसकी व्युत्पत्ति हुई है ana (ऊपर, हर जगह) और lysis (खुलना) या ढीला होना। Lyein का अर्थ है, 'खोलना', 'ढीला करना', 'मुक्त करना', 'छोड़ना' और यहाँ तक कि 'के लिए प्रायश्चित करना'।

इस तरह देखें तो विश्लेषण का वस्तुतः अर्थ होता है विखण्डित करना। यहाँ यद्यपि दर्शनशास्त्र से संबंधित एक मुद्दा है, कि क्या विश्लेषण / विखण्डन का परिणामी तत्त्व एक अनुभव की वस्तु है या वह ज्ञान का विषय है, ज्ञेय है। यह मुद्दा अनुभववादियों और ज्ञेयवादियों को विभाजित करता है, जबकि विश्लेषण और विखण्डन के बीच का भेद, किसी का भी एक स्पष्ट ठोस तरीक़े से विभाजन नहीं करता है। विवेचनात्मक युरोपियन विचारधारा और विश्लेषणात्मक एंग्लो-अमेरिकन विचारधारा के बीच प्रस्तावित, प्रक्षेपित बड़ा अंतर, अधिक से अधिक एक बहुत ही अस्पष्ट दरार मात्र है। दोनों विचारधाराएँ 'होने की' क्रिया के उपकरण पर ही भरोसा करती हैं। अब हम अन्य क्रियाओं की तुलना में 'होने की' क्रिया के विश्लेषण और विखण्डन क्षमता का अन्वेषण करते हैं।

एक ही परिस्थिति को विभिन्न वाक्यों में अलग-अलग क्रियाओं के सहारे कहा जा सकता है। 'मैं चल रहा हूँ, मैं जा रहा हूँ, मैं जी रहा हूँ'। भाषा में क्रियाओं की बहुलता से वास्तविकता रहस्य में आ सकती है। वास्तविकता के अन्वेषण में भाषाई संदिग्धता को दूर करने के लिए, 'सार्वभौम क्रिया' या 'सामान्य क्रिया' की एक प्राचीन तलाश रही है, जिससे कि विभिन्न क्रियाओं के आपस में संबंध स्थापित किया जा सके। प्राचीन ग्रीक 'मौलिक विचारक' की ओर से एक-दूसरे से जुड़े कई उत्तर आये। काह्न[6] ने ग्रीक प्रस्तावों के तर्क को व्यक्त किया है, जिसे मैं संक्षेप में दुहरा रहा हूँ। क्रिया 'बन जाना' (बिकमिंग) और 'होना' (बीइंग) के बीच क्या संबंध है?

'X', 'Y' 'एक्स' 'वाइ' बन जाता है।

[6] काह्न (1973) : 205-6.

इसके लिए ये मानना आवश्यक है कि 'एक्स', 'वाइ' नहीं था, 'एक्स' 'वाइ' हो जाएगा, 'एक्स' 'वाइ' होना शुरू हो गया, इत्यादि।

इन सारे वाक्यों में 'होना' है। यानि कि 'बन जाने' के लिए 'है' इत्यादि ज़रूरी है। तर्क यह है कि 'होने' के लिए 'बन जाना' आवश्यक नहीं है, पर 'बन जाने' के लिए 'होना' आवश्यक है। जब हम कहते हैं : 'एक्स' 'वाइ' है, तो यह 'होना' एक आदिम तत्त्व है, एक रूप है, जो कि 'एक्स' 'वाइ' बन जाता है' के अर्थ में भी दिखता है।

सामान्य क्रिया की खोज का प्राचीन ग्रीक जवाब यही है— 'होना' (टू बी, बीइंग)। किसी भी क्रिया को इस सामान्य क्रिया वाले वाक्यों के संयोग के रूप में लिखा जा सकता है। 'होने की' क्रिया एक परमाणु जैसा है। इस क्रिया का परमाणु-स्वरूप और इसकी सार्वभौमिकता इसकी अनुमति नहीं देता कि इसके अर्थ का समावेश अन्य क्रिया रूपों में हो सके, यहाँ तक कि क्रिया रूप 'बन जाने' में भी। इस प्रकार से इस क्रिया को विश्लेषण की एक अतिविशेष शक्ति प्रदान की जाती है, अन्य प्रक्रियात्मक क्रियाओं (प्रोसेस वर्ब्स) के सम्मुख।[7]

ग्रीक 'होने की' क्रिया के विभिन्न रूप— εον/εστι/ειναι— महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धांतों में उपस्थित हैं, जैसे कि पारमिनेडीज का το εου का सिद्धांत, या प्लेटो का रूप το τε εστι, या अरस्तु का 'सार' το τι ην ειναι। ग्रीक 'होने की' (क्रिया) अपने विभिन्न अर्थों में— अस्तित्व-मूलक, संयोजक, वैधानिक व प्रसर्जक— एक स्पष्ट एकता दिखलाती है। 'पश्चिम के मौलिक विचारक' का सत्ता-विमर्श ऑन-टो-लॉजी, इस होने की क्रिया के विश्लेषण से ही निकलता है और ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय के विमर्श और अनुभव में एक विशेष स्थान बनाता है। क्रिया शब्द 'होना' या 'टू बी' एक ऐसी धुरी बन जाती है, जिसके इर्द-गिर्द ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय की विश्लेषणात्मक शक्ति मँडराती रहती है।

'टू बी' की विश्लेषणात्मक शक्ति का विवेचन

भारतीय परिवेश में, सार्वभौम क्रिया से संबंधित वही मिलता-जुलता प्रश्न— सामान्य क्रिया क्या है?— पतंजलि द्वारा *महाभाष्य* में पूछा जाता है।[8] पतंजलि कहते हैं कि सभी क्रियाएँ अंतर-व्याप्य हैं। अगर ये पूछा जाए— आप क्या कर रहे हैं?— तो इसके जवाब में सारी क्रियाएँ आ सकती हैं। मानो करने की क्रिया का अन्य क्रियाओं के साथ एक साझा स्थान है, जैसे करने की क्रिया अन्य सारी क्रियाओं के अर्थ में घुली-मिली हैं।

अन्य सभी क्रियाओं के स्थान पर 'करने' की क्रिया की विषय-वस्तु भी पाई जा सकती है, मानो 'करने' की क्रिया स्थानातीत हो। कहीं भी, कोई क्रिया होती है तो उसमें 'करने' की क्रिया का अर्थ भी पाया जाता है। इसका अन्य सभी क्रियाओं से एक साझा स्थान (समानाधिकरण) है। इसलिए स्थानांतरण के संदर्भ में 'करना' सामान्य क्रिया की उपयुक्त उम्मीदवार दिखती है। लेकिन आगे जाकर पतंजलि कहते हैं कि तीन ऐसी क्रियाएँ हैं जो इस प्रश्न के उत्तर नहीं हो सकते— आप क्या कर रहे हैं? ये तीन क्रियाएँ हैं— अस्ति (बीइंग), भवते (हैपनिंग), और विद्दते (प्रजेंस)। 'ना हि भवति— किम करोति? अस्तिती?' 'ऐसा नहीं होता है— आप क्या कर रहे हैं? मैं हूँ?'

---

[7] पतंजलिकृत व्याकरण *महाभाष्य* (1963) : 181–82.

[8] इनके अलावा विशेष्य-विशेषण भाव, वाच्य-वाचक भाव, व्याप्य-व्यापी भाव, अवयव-अवयवी भाव, निरूपण-निरूप्य भाव, लक्ष्य-लक्षण भाव, बाध्य-बाधक भाव, इत्यादि परम्परा में पाए जाते हैं. विभिन्न दर्शनों में अलग-अलग भावों को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलता है. उदाहरण के लिए बौद्ध और अद्वैत दर्शन में ग्राह्य-ग्राहक भाव का, शैव दर्शन में प्रकाश्य-प्रकाशक भाव का, और वैशेषिक में आधार-आधेय भाव का विशेष स्थान है. ये सारे विरामचिह्न (पंक्चुएटर) हैं और एक दूसरे से अपने औपचारिक क्रियाओं में भिन्न हैं.

इस प्रकार के विश्लेषण से पतंजलि आगे दिखाते हैं कि सिर्फ़ 'भवते' (घटित होना) का अन्य सभी क्रियाओं के साथ एक साझा स्थान है और इसलिए 'भवते' ही वास्तव में सामान्य क्रिया है। 'अस्ति' में सकर्मक भाव नहीं है (अकर्मक होने के कारण उसमें क्रम का भाव नहीं है), जो कि 'भवते' में है। उन अवसरों पर जहाँ सिर्फ़ सकर्मकता का भाव है, जैसे बदलाव-मात्र का भाव या परिवर्तन का स्थान, वहाँ 'अस्ति' का कोई स्थान नहीं बनता। उसी तरह 'विद्यते' उस स्थान पर लागू नहीं होता, जहाँ मृत्यु का भाव है, जहाँ परिवर्तन से अभाव की उत्पत्ति हो रही है। परंतु इन दोनों स्थानों पर 'भवते' मौजूद है। इस प्रकार के अकाट्य तर्क के आधार पर पतंजलि इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'भवते' ही सामान्य क्रिया है, 'अस्ति' नहीं। भारतीय सैद्धांतिकी में 'भवते' के विश्लेषणात्मक जगत के लिए एक प्रतिबद्धता है, न कि 'होने' के विश्लेषणात्मक जगत के लिए।

सामान्य क्रिया की खोज में पतंजलि क्रियाओं के स्थानांतरण की पद्धति अपनाते हैं, जबकि ग्रीको-युरोपियन परम्परा में उसी खोज में क्रियाओं के विघटन की पद्धति अपनाई गयी। हमारी जो मूल समस्या है— ज्ञानोदय और अंधकारमय के संबंध— उसके लिए इस भेद का विशेष महत्त्व है। 'होने' की अ-विघटनीय क्रिया एक शानदार अकेलेपन में खड़ी है जहाँ अन्य सभी क्रियाओं से उसके संबंध उसके बिल्कुल बाहर हैं। यह संबंध वस्तु जगत की वास्तविकताओं से बाहर तार्किक जगत में स्थापित होता है। जब हम किसी प्रक्रियात्मक क्रिया को 'होने की' क्रियाओं में तोड़ते हैं, तो हो सकता है एक क्रिया को अभिव्यक्त करने में 'होना' क्रिया वाले अनगिनत वाक्य लग जाएँ। 'संबंध' का वास्तविकता से बाह्यीकरण वास्तविकता और तर्क के बीच एक गहरी खाई को जन्म देता है।

'भवति' (हैपनिंग, घटित होना) का विश्लेषणात्मक संसार

भारतीय विचार संसार में दो ऐसे महत्त्वपूर्ण क़दम उठाए गये, जिनकी सम्पूर्ण व्याख्या 'भवते' के इस विश्लेषण से सम्भव होती है। एक तो है सामान्य क्रिया का संज्ञाकरण— 'भवति' के संज्ञाकरण से बनता है 'भाव'। दूसरा है क्रिया के अंत का विचार जिसे 'भाव प्रत्यय' कहते हैं।

'भवति' से बदलाव-मात्र का वो अल्पतम भाव मिलता है जो हर क्रिया को अनुप्राणित करता है। किसी बदलाव या परिवर्तन का परमाणु स्वरूप है 'भाव'। किसी बदलाव में दो दशाएँ होती हैं— एक दशा से दूसरी दशा में अंतरण या स्थानांतरण की जो अल्पतम अभिव्यक्ति है, उसी का रूप है भाव। भारतीय परम्परा में ऐसे दसियों रूप खोज निकाले गये हैं— धर्म-धर्मी भाव, कार्य-कारण भाव, आधार-आधेय भाव, इत्यादि।[9] किसी दो असमान तत्त्वों/अवस्थाओं/दशाओं को किसी ख़ास संदर्भ में संलग्न करने वाले रूप को भाव कहते हैं। यह दो असमान सत्ताओं को एक संबंधपरक प्रसंग में, संस्पर्श में लाने का एक उपकरण है। इस रूप को मैं 'विरामचिह्न' कह कर सम्बोधित करता हूँ।

'विरामचिह्न' ग्रीको-युरोपियन तर्कवाक्य जैसे रूपों से इस अर्थ में भिन्न है कि वो कोई अंत:क्षेत्र या प्रकोष्ठ नहीं है जिसके अंदर विषय-वस्तु हो। 'विरामचिह्न' एक ऐसे रूप का विचार है जिसकी विषय वस्तु रूप के बाहर होती है।

'भवति' में एक स्थानातीत प्रसार का बोध है। कोई चीज़ जो कई स्थानों पर घटित होती है, उसका भवति के साथ समानाधीकरण, साझा स्थान है। ऐसे वस्तु-शब्द से उसके व्यापक अर्थ का निर्माण उस शब्द के अंत में 'भवति' के जुड़ने से हो जाता है। किसी वस्तु के व्याप्ति का रूप है भाव प्रत्यय। उदाहरण के लिए मैन से मैनहुड या ह्यूमन से ह्यूमेननैस, इस तरह बनता है। संस्कृत में यह शब्द के अंत में '-ता' या '-त्व' जोड़ कर बनता है, जैसे पुरुष से पुरुषत्व, या मानव से मानवता। इस

---

[9] यास्क के *निरुक्त* 1.1.7 में √भू- और √अस् का परस्पर विरोध रेखांकित— भाव प्रधान आख्यातम सत्व प्रधानानि नामानि. यास्क के अनुसार सारे अर्थ अंतत: क्रियाओं पर आधारित हैं, संज्ञा शब्दों के अर्थ भी.

> हमारी जो मूल समस्या है— ज्ञानोदय और अंधकारमय के संबंध— उसके लिए इस भेद का विशेष महत्त्व है। 'होने' की अ-विघटनीय क्रिया एक शानदार अकेलेपन में खड़ी है जहाँ अन्य सभी क्रियाओं से उसके संबंध उसके बिल्कुल बाहर हैं। यह संबंध वस्तु जगत की वास्तविकताओं से बाहर तार्किक जगत में स्थापित होता है। जब हम किसी प्रक्रियात्मक क्रिया को 'होने की' क्रियाओं में तोड़ते हैं, तो हो सकता है एक क्रिया को अभिव्यक्त करने में 'होना' क्रिया वाले अनगिनत वाक्य लग जाएँ। 'संबंध' का वास्तविकता से बाह्यीकरण वास्तविकता और तर्क के बीच एक गहरी खाई को जन्म देता है।

प्रक्रिया में वस्तुओं का अमूर्तन हो जाता है। कोई वस्तु, जैसे पुरुष, दी गयी हो, तो उसका अमूर्तन, पुरुषत्व, बन जाता है, जो उसके व्यापक अर्थ को दर्शाता है। इस व्यापक अर्थ में पुरुष तत्त्व लिए सारी वस्तुओं का समागम हो जाता है। भाव प्रत्यय वह रूप है जिसके द्वारा यह सम्भव होता है।

मैं इसे अमूर्त्तनकार कहता हूँ, जिसके परिणामस्वरूप भाव निकले। यह एक तरह का औपचारिक साधन है, जिससे किसी भी सत्ता के विस्तार को, पृथक् किया जा सके। यदि कोई सत्ता 'पुरुष' दी हुई हो, तो एक भाववाचक सत्ता, 'पुरुषत्व', औपचारिक रूप से बनाई जा सकती है, जिससे कि 'पुरुष' शब्द के विस्तारित अर्थ को चिह्नित किया जा सकता है। यह विस्तार का ऐसा रूप है जो कि 'set' समुच्चय के रूप जैसा है।

पर समुच्चय से इसका एक महत्त्वपूर्ण भेद है। समुच्चय स्वतः अंतर्स्थापित करने (सेल्फ़-इम्बेडिंग) की अनुमति देता है, जैसा कि पिआनो के अंकगणित प्रणाली में होता है। 'भवति' से क्रिया का अंत, भाव प्रत्यय, इसकी अनुमति नहीं देता। यह दी गयी वस्तु से एक अमूर्त वस्तु बना देता है; जिसके परिणाम प्राकृतिक क़िस्में या जातियाँ होती हैं। यह वैसा समुच्चय नहीं जो अपने अंदर उन सदस्यों को समेटे है, जो किसी दी गयी वस्तु के समान हैं।

'विरामचिह्न' बदलाव/स्थानांतरण/भेद/विन्यास का रूप है। 'भाव प्रत्यय', व्यापकता/विस्तार/फैलाव का रूप है। ये खुले रूप हैं, समुच्चय या तर्कवाक्य जैसे बंद रूप नहीं। तर्कवाक्य विषय वस्तुओं का एक संयोजक रूप है जिसके अंदर विषय वस्तुएँ, जैसे कर्ता और विधेय, अपना स्थान ले सकती हैं। तर्कवाक्य और समुच्चय एक आवरण है, या साँचे हैं, जिसके अंदर विषय वस्तु समाहित हो जाती है। ये एक तरह के घेरे हैं, विषय वस्तु जिसके अंदर है, जबकि विरामचिह्न एक बिंदु स्वरूप है जिसके विषय वस्तु पूर्णतया बाहर हैं। रूपों के भेद को समझने के लिए हमें इस 'बिंदु'को समझना पड़ेगा।

यूक्लिड की *ज्यामिती* में 'बिंदु' को एक लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई रहित वस्तु के रूप में परिभाषित किया गया है। पर बिंदु का एक ग़ैर-ज्यामितीय प्रयोग भी है। उदाहरणार्थ, जब हम सुनते हैं कि 'इस बिंदु पर प्रकाश डालो' या 'यह बिंदु समझ में आ गया', इत्यादि, तो यह बिंदु का ग़ैर-ज्यामितीय प्रयोग है। अंग्रेज़ी में पंक्टर, कम्पंक्शन, पंक्चिलीशियस इत्यादि ऐसे पद हैं जिनके ग़ैर-ज्यामितीय अर्थ हैं। भारतीय भाषाओं में पंक्ति या पंगत जैसे शब्द हैं जो √ पंक्त धातु से निकले हैं। लोगों की कतार, ध्वनियों की शृंखला, चित्त संतति, ये सारे पंक्ति कहलाते हैं (जो कि लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई रहित नहीं हैं)। पंक्ति पृथक् वस्तुओं का एक क्रम में संयोजन है। 'पंक्ति' और 'पंक्टम' एक ही धातु से आते हैं। पंक्ति और कुछ नहीं बस दो (या अधिक) वस्तुओं का एक बिंदु के द्वारा संयोजन में लाना ही है। बिंदु इस संयोजन को प्रकट भी करता है।

विरामचिह्न 'पंक्टम' के ग़ैर-ज्यामितीय अर्थ को पकड़ता है। यह एक ग़ैर-वस्तु है, एक रूप है जो वस्तुओं का संयोजन करता है। यह एक शून्यता है, जो वास्तविकता की बनावट को प्रगट करता है। उन वस्तुओं पर इसका कोई नियंत्रण नहीं है जिनके बीच यह 'विरामचिह्न' लगाता है। समुच्चय या तर्कवाक्य में घेरेबंदी की शर्तें हैं उनमें समावेशित होने के लिए। विरामचिह्न उन शर्तों से मुक्त है। जिन वस्तुओं को वह व्यवस्थित या नियोजित करता है, उन पर कोई सत्ता-संबंधी शर्तें नहीं होतीं, जैसे कि वो अपरिमित न हों। यह होना (बीइंग) नहीं है जो प्रगट करता है, वो विरामचिह्न है जो प्रगट करता है। यूँ कहें कि विरामचिह्न प्रकटीकरण का रूप है।

तर्कवाक्य और समुचच्य उस पदार्थ पर, जिसे वे अपने विषय वस्तु के रूप में प्रवेश की अनुमति देते हैं, उन पर एक तात्विकीय भार डालते हैं, उन पर सत्ता संबंधी शर्तों के कारण। इस प्रकार का तात्विकीय भार 'अंधकारमयता' में परिवर्तित हो जाता है, जब इन रूपों का स्थानांतरण या विस्थापन होता है। पश्चिम के सारे सारतत्त्ववादी दावे तर्कवाक्य रूप में हैं। पश्चिम के सारे रचनावादी/संरचनावादी दावे समुच्चय रूप में हैं। स्थानांतरण ग्रीको-युरोपियन 'उपस्थिति' में एक अघोष व्यंजन की तरह है। इसकी जगह या तो एक रहस्यवादी मुक्ति का अनुभव ले लेती है, या फिर एक दुर्दमनीय घटना, जो पाठ्यों और विचारशील सिद्धांतों को भंग करते हुए, 'विद्यमानता' से पार पाने का उत्सव मनाए। तथापि, घेरेबंदी पर निर्भर यह प्रकटन, 'पश्चिम के मौलिक विचारक' के स्थानांतरण को बोझिल और अंधकारमय बना देता है।

विरामचिह्न की विश्लेषिकी मूलरूप में स्थानांतरण से होने वाले अंधकारमयता से मुक्त है, चूँकि (1) उसका अपना निजी विधान स्थानांतरण से संबंधित तर्क पर ही आधारित है, न कि 'स्वत: अंत:स्थापत्य' पर या विघटनकारी विश्लेषण पर। इसकी संरचना के मूल में स्थानातीत वैचारिकी है। (2) इसका कोई नियंत्रण विषय वस्तु पर नहीं है, जो इसके बाहर है। इसलिए किसी विशेष सत्ता मीमांसा के अधीन नहीं है और ऑन-टो-लॉजी से मुक्त है। लेकिन इस प्रकार के सैद्धांतिकी का भी अपने 'नाक तले' वाला सन्निहित अंधकारमय है। हर एक के लिए अपना-अपना अंधस्थल तो है, पर इस विश्लेषिकी का स्थानांतरण दूसरों के लिए अंधकारमय नहीं बनाता। 'बिंदु' की विचारशीलता की यह ताक़त है, जो कि भारतीय विचार में सुसंस्कृत है।

बौद्ध धर्म का ऐतिहासिक स्थानांतरण इस बात का प्रमाण है, क्योंकि चीनी या जापानी संस्कृति में बौद्ध धर्म के संस्करण इसके भारतीय मूल या इतिहास से प्राय: स्वतंत्र हैं।

ग्रीको-युरोपियन ज्ञानोदय की नाक के नीचे वाले अँधेरे की ओर हाइडेगर ने हमारा ध्यान आकर्षित किया। इसकी अभिव्यक्ति 'विद्यमानता की तत्त्वमीमांसा' द्वारा 'होने-मात्र' के विलोप में होती है। लेकिन यह निर्मलन या शोधन हमारी 'ऐतिहासिक नाक' पर निर्भर है और ये विश्लेषण स्थानांतरणीय नहीं है।

हाइडेगर की ग़लती यह थी कि उसने इण्डो-युरोपियन धातु √भू- (जिससे 'भवति' बनता है) और √अस्- (जिससे 'अस्ति' बनता है) के परस्पर विरोध को नज़रअंदाज़ किया। इसकी जगह उसने उस विरोध को सामने रखा जो कि τo εον (बीइंग) और εστι ουτο (व्हाट इज़ देयर एज़ सेम, बीइंग्ज़) के बीच है और जो 'होने की' क्रिया के ग्रीक प्रणाली के अंदर का विरोध है। हाइडेगर की यह प्रवृत्ति, जो पश्चिमी विचारक के 'होने की' क्रिया के प्रति रुझान को दर्शाता है, इस बात की ओर इशारा करती है कि पश्चिम का स्थानांतरण बग़ैर अंधकारमयता के सम्भव नहीं है। इसके विपरीत, 'बिंदु' की विचारशील स्वसंवेदना ऐसे ज्ञानोदय की सम्भावना को दर्शाता जिसके स्थानांतरण में अंधकारमयता निहित न हो।

इन्हीं कारणों से अब्राह्मिक परम्पराएँ स्थानांतर-संबंधी अंधकारमयता, के साथ जुड़ी हुई आती है, जबकि भारतीय परम्पराएँ एक कालिक आंतरिक अंधकारमयता से, जैसा कि 'अद्विज' में दिखता है।

विरामचिह्न से युक्त विश्लेषण में यह क्षमता है कि वो 'विखण्डन' के रहस्यवाद को दूर करे। विरामचिह्न विखण्डन का वो सही रूप है जिसके द्वारा ज्ञानोदय और अंधकारमयता दोनों का विखण्डन हो सकता है।

अंधकार को निष्कासित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह कोई पदार्थ नहीं है, परंतु उसको परीक्षण में रखा जा सकता है, एक ऐसे प्रकाश में जो स्थानांतरणीय है। अंधकार का सामना करने के साहस के बिना कोई नया प्रकाश नहीं उभर सकता।

यह अनकही मुल्ला नसरुद्दीन की है।

यह अप्रकाशित लेख मूल अंग्रेज़ी में यहाँ उपलब्ध है :

https://www.academia.edu/36534694/NAVJYOTI_SINGH_-_Riding_across_Greco-European_Enlightenment_An_Inquiry_into_Method_of_Punctal_Reflexivity_in_Indic_Thoughts.

संदर्भ

चार्ल्स सी. काह्न (1973), *दि वर्ब 'बी' इन ऐंशेंट ग्रीक,* रीडेल, बॉस्टन.
जॉन डब्ल्यू. एम. वीरहार (सं.)(1973), *दि वर्ब 'बी' ऐंड इट्स सिनोनिम्स: फ़िलोसॉफ़िकल ऐंड ग्रैमिटिकल स्टडीज़,* रीडेल, बॉस्टन.
दयाकृष्ण (1997), *इण्डियन फ़िलॉसफ़ी : ए न्यू अप्रोच,* श्री सतगुरु प्रकाशन, नयी दिल्ली.
पतंजलि कृत व्याकरण *महाभाष्य* (1963), दूसरा खण्ड, हरियाणा संस्कृत संस्थानम्, रोहतक.
मार्टिन हाइडेगर (1943), *पारमेनीडीस,* अनु: आंद्रे शुवेर और रिचर्ड रोजसेविच, ब्लूमिंगटन ऐंड इण्डियानापोलिस, इण्डियाना युनिवर्सिटी प्रेस.
यास्क, *निरुक्त* 1.1.7 में √भू- और √अस् का परस्पर विरोध रेखांकित— भाव.